व्यक्ति, समाज और साहित्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

केवल अशोक लौट रहा है
और सब
कलिंग का पता पूछ रहे हैं।
: श्रीकांत वर्मा

सृजनशीलता के सामाजिक पक्ष पर सोचने का प्रारंभ करते ही सबसे पहले मन में यह प्रश्न अपने बहुआयामी संदर्भों के साथ उभरता है कि क्या हम ऐसी किसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिस में किसी भी रूप में कोई हमारे साथ नहीं हो या ऐसी कोई स्थिति जिस में, अकेलेपन के निहितार्थों की सभी पर्त्तों पर, हम बिल्कुल ही अकेले हों? सृजनशीलता का मन से बड़ा गहरा रिश्ता है। चूँकि यह प्रश्न इसी सृजनशील मन में उभरता है इसलिए मन पर भी विचार करना जरूरी है। व्यक्ति-मन और सामाजिक-मन के आशयों की पड़ताल आवश्यक है। यहाँ मुख्य आशय साहित्यिक सृजनशीलता से है। इस विशिष्ट सृजनशीलता के साथ-साथ सामान्य सृजनशीलता के दूसरे प्रभावी और निर्मायक तत्त्वों से मन के रिश्तों के परिप्रेक्ष्य का अपना महत्त्व है। यह महत्त्व इसलिए है कि विशिष्ट अनिवार्यत: अपने सामान्य का ही अंश हाता है।

व्यक्ति और समाज में 'अरथ-गिरा, जल-वीचि' की तरह कहियत भिन्न, न भिन्न का संबंध होता है। बहुधा, व्यक्ति और समाज को एक दूसरे की विरोधी सत्ता बताया जाता है। ऐसा है नहीं। समाज को कमजोर बनाकर दीर्घकालिक वृहत्तर सामाजिक स्वार्थ के विपरीत तथा बाहर अल्पकालिक, संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थ साधने की सामाजिक अनुकूलता की रचना करने की इच्छा रखनेवालों ने यह कपट-सिद्धांत स्थिर किया है। इस कपट सिद्धांत के दुष्प्रभाव सामाजिक विकास के विभिन्न संदर्भों में पहचाने जा सकते हैं। समाजिक विकास का एक संदर्भ साहित्य भी रचता है। जाहिर है कि यह दुष्प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। काव्य-तत्त्व साहित्य का कोमल पक्ष है। इस कपट-सिद्धांत का अधिक दुष्प्रभाव काव्य-तत्त्व पर पड़ता है। इसलिए, इस विमर्श में काव्य-तत्त्व के संदर्भ का विशेष महत्त्व है। व्यक्ति और समाज के

आधुनिक द्वंद्व के संदर्भों पर विचार करने से इस कपट-सिद्धांत की पोल खुलते देर नहीं लगती है। समाजवादी मानववाद की सचेत संकल्पना के आधार पर समाज की पुनर्रचना की समतामूलक आकंक्षा के साकार होने की संभावना के जगते ही, गर्हित स्वार्थ के वर्गबोध से जुड़े 'बुद्धिजीवियों' की तरफ से व्यक्तिवाद की दुंदुभि बजाने की कोशिश की जाने लगी। समाजवादी मानववाद की सचेत संकल्पना के आकार पाते ही समाज और व्यक्ति के एक दूसरे की विरोधी सत्ताएँ होने का, व्यक्ति को सबसे अधिक खतरा समाज से होने का 'दार्शनिक शोर' मचाया जाने लगा। हकीकत क्या है? हकीकत यह है कि समाज ने ही व्यक्ति को मनुष्य बनने की गरिमा से संयुक्त किया है। पानी के बीच में रहने के बावजूद मीन प्यासी भले रहे, सदा जल में रहने के बावजूद उस में बास चाहे सदा बनी रहे, लेकिन पानी से बाहर मीन का प्राण ही खतरे में पड़ जाता है। जाल पड़ने से जल के बहकर बाहर निकल जाने की चाहे जितनी शिकायत हो, मीन को रहना पानी में ही पड़ता है। मछली के लिए पानी में रहकर ही लड़ना संभव होता है। जिन मगरमच्छों से मछली को प्राण का सदा भय बना रहता है उन मगरमच्छों के भी जीवन का आधार पानी ही देता है। इस कारण पानी मछली का वैरी नहीं हो जाता है। मगरमच्छ तो जब चाहे कुछ क्षण के लिए पानी से बाहर निकलकर विहार कर सकता है, लेकिन मछली ऐसा नहीं कर सकती है। समाज और व्यक्ति का संबंध बहुत कुछ पानी, मगरमच्छ और मछली के संबंध जैसा है। मुट्ठी भर समृद्ध लोग समाज से बाहर रह कर भी थोड़ी देर तक जी ले सकते हैं लेकिन विशाल मानव समुदाय के लिए यह संभव नहीं हो सकता है। समाज कई बार व्यक्ति के सामने अवरोध बनता है लेकिन इसलिए समाज को व्यक्ति का विरोधी मानना भारी भूल होगी। उसी प्रकार व्यक्ति भी कई बार समाज की मान्यताओं के विपरीत आचरण करता हुआ प्रतीत होता है, करता भी है, लेकिन इसी आधार पर व्यक्ति को समाज का पूर्णविरोधी मानना भी भूल होगी। सच तो यह है कि इस विपरीत आचरण का आधार और साहस भी समाज ही देता है। जितनी दूर तक समाज यह साहस देता है उतनी दूर तक समाज इस प्रकार के आचरण को अपने मानकों में समायोजित भी करता चलता है। इस समायोजन से खुद उस समाज की मान्यताओं की जीवंतता और गत्यात्मकता बनी रहती है। समाज द्वारा प्रदत्त साहस की सीमा-रेखा से बाहर जाकर किये जानेवाले आचरण को ही समाज अपराध करार देता है। वस्तुत: समाज विरोधी आचरण का भी एक सामाजिक पहलू होता है। समाज और व्यक्ति का चुंबकीय संबंध दो ध्रुवों के आकर्षण-विकर्षण के संबंध जैसा होता है। इस आकषर्ण-विकर्षण के संबंध का स्वरूप निश्चित रूप से द्वंद्वात्मक ही होता है। 'कुंभ में जल' और 'जल में कुंभ' के होने की तरह।[1] व्यक्ति समाज में रहता है और समाज व्यक्ति के अपने मन में। अनुभव सिद्ध बात है कि समाज पर व्यक्तिवाद का प्रभाव जितना बढ़ता है, समाज पर व्यक्तित्व का प्रभाव उतना ही कम होता जाता है। इसके कारण क्या हैं? असल में व्यक्तित्व समाज का सार होता है। व्यक्तिवाद समाज को कमजोर करता है। जब समाज कमजोर हो तो उसका

सार प्रभावशील कैसे बन सकता है? प्रसंगवश, इस समाज के अधिक मूर्त्त और अंतरंग बनाव को ही परिवार कहा जाता है। समाज का यह अंतरंग बनाव आज दबाव में है। समाज के संदर्भ को समझने के लिए परिवार को ध्यान में रखना चाहिए।

समाज और व्यक्ति के संबंधों के विभिन्न स्तर पर बननेवाले अंतर्पथ[2] और नाभिकीयता में चिदबिंदुओं[3] की सक्रियता पर विचार करने के लिए समाज की संरचना पर विचार करना जरूरी है। इस संदर्भ में पहला सवाल यही उठता है कि समाज की संरचना एकआधारीय होती है या बहुआधारीय? समाज और व्यक्ति को एक दूसरे की विरोधी सत्ता बतानेवाले सामाजिक संरचना को एक आधारीय मानते हैं। वे सीधे समाज और व्यक्ति के बीच के विरोध की बात करते हैं। समाज और समाज या समाज और सामाजिक समूहों के बीच की विरोधिता और सहमेल को वे नजरअंदाज कर देते हैं। सही बात यह है कि सामाजिक संरचना बहुआधारीय होती है। इस बहुआधारीयता के विनिर्माण में बहुत सारे ऐतिहासिक कारक सक्रिय होते हैं। इस बहुआधारीयता के कारण ऊपर से एक दिखनेवाले समाज के अंदर 'हमलोग' और 'वे लोग' जैसे विभिन्न हित-ग्राही समूह बनते हैं। इस हित-ग्राहिता के आर्थिक परिप्रेक्ष्य से वर्ग का--- और काफी हद तक भारतीयता के हिंदू संदर्भ में वर्ण और जाति का भी--- जन्म होता है। इस वर्ग और वर्ण के अंदर भी आर्थिक हित-ग्राहिता के आधार पर नाना अंतर्पथ बनते हैं। यह क्रम चलते-चलते व्यक्ति तक पहुँचता है और उसके अंदर एक द्वंद्व रचता है। व्यक्ति के भीतर चलनेवाले इस अंतर्द्वंद्व से उसका नजरिया और चरित्र बनता है। हित-ग्राहिता के चरित्र का ही एक आंतरिक पक्ष और है, हित-निग्राहिता का। व्यक्ति में अपने हितों को छोड़ने की यह हित-निग्राही प्रवृति उसे व्यक्ति-हित से उठाकर वर्ग-हित तक ले जाती है और फिर वर्ग-हित से उठाकर समाज-हित तक भी ले जाती है। असल बात यह है कि व्यक्ति-हित और उसके वर्ग-हित एक ही ठोस आर्थिक आधार पर अवस्थित होने के कारण अविभेद्य होते हैं। भिन्न वर्गों के हित ठोस आर्थिक आधार की भिन्नता के कारण दु:संयोज्य होते हैं। वृहत्तर सामाजिक-हित के संदर्भ में, वर्गरहित समरस समाज के सपना को साकार करने के लिए आर्थिक आधार की भिन्नता से जनमे सामाजिक भेदभाव को समाप्त किया जाना आवश्यक होता है। इस सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध समाज में जनसंघर्ष की प्रक्रिया मंद-तीव्र गति से चलती रहती है। जनसंघर्ष के बीच से वर्गसंघर्ष का रास्ता खुलता है। जनसंघर्ष और वर्गसंघर्ष के लिए संवेदनात्मक स्तर पर सक्रिय जनबोध और वर्गबोध का होना आवश्यक होता है। सृजनशीलता अनिवार्य रूप से सामाजिक ही होती है, इसलिए सृजनशीलता विश्व-मानव समाज का सपना देखती है। एक ऐसे समाज का सपना जहाँ चित्त भय शून्य हों, जहाँ सिर ऊँचा हो, जहाँ ज्ञान मुक्त हो।[4] सिर्फ कुछ लोगों का नहीं बल्कि अधिकतम लोगों का चित्त भय शून्य हो, सिर उँचा हो, ज्ञान मुक्त हो, यह सपना सृजन की आँख में बसता है। इस सपना का

संबंध साहित्य की सामान्य प्रगतिशील चेतना से है। साहित्य की सामान्य प्रगतिशीलता की चेतना सिर्फ कामना के स्तर पर सक्रिय रहती है। विशिष्ट प्रगतिशीलता समरस समाज के सपना को कामना के स्तर से बढ़ाकर कार्रवाई के स्तर पर सहायक होने की संभावना तक ले जाती है। इसके लिए सृजनशीलता वृहत्तर मानवीय सरोकारों के संदर्भ में सामाजिक जनबोध और वर्गबोध का संवेदनात्मक आधार बनाती है। यह काम आसान नहीं है। इसे सिर्फ लोकतंत्र की अंतर्वस्तु को उसके हीर को सामाजिक चेतना की गत्यात्मकता से जोड़े रखने पर ही संभव है। लोकतंत्र की दशा क्या है? आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान के आधार पर दुनिया इतनी आजाद पहले कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण![5] विकास के चालू व्याकरण के कारण कुछ लोगों के लिए दुनिया सचमुच बहुत आजाद हो गई है और बहुत सारे लोगों के लिए अन्यायपूर्ण। दुनिया को आजाद और न्यायपूर्ण बनाने के लिए विकास के सामाजिक संदर्भ में लोकतंत्र के हीर का अंतर्प्रवेश ही एक मात्र रास्ता है। हमारे देश में लोकतंत्र की जड़ें बहुत गहरी है लेकिन फल? फल की मधुरता और पौष्टिकता जनसुलभ नहीं है। इसे सुलभ बनाने का काम जड़ सैद्धांतिकता की यांत्रिकता से यह संभव नहीं होता है। इसे सृजनात्मकता की सामाजिक संवेदनशीलता से ही संपादित किया जा सकता है। इसके लिए जन-लेखकों की ऐतिहासिक जरूरत होती है। नामवर सिंह के इस मंतव्य को बार-बार खोलने, समझने और महसूस करने की जरूरत है कि ‘जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है।’[6] जन-लेखकों की सर्जनात्मकता के लिए व्यापक विश्व-दृष्टि अधिक मूल्यवान होती है क्योंकि जन-लेखन का उद्देश्य, वर्ग-स्वार्थ के कारण विचारधारा से असहमत लोगों को भी भावधारा की संवेदनात्मकता की सामाजिक सहमति से जोड़ना होता है। ‘उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण’ का ‘तिरगुन फाँस’ कर में लिये डोलनेवाले बाजारवाद की माया-मोहिनी से बचते हुए, जन-लेखक का दायित्व निभाने के लिए अपने को तैयार करने की चुनौती सृजनशीलता के सामने है। बड़ी आसानी से समझ में आने लायक बात है कि क्यों समाज हित के नाम पर समाज के उच्चवर्ग के हितसाधन से जुड़े लोग वर्ग की जगह व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं और क्यों व्यक्ति-हित के अंतर्द्वंद्व को इतना बढ़ा-चढ़ाकर देखते और दिखाते रहे हैं।

जयशंकर प्रसाद ‘चिति की द्रयता’[7] की बात कहते हैं। चिति में इस द्रयता का आधार सामाजिक ही होता है। द्वंद्व जीवन का लक्षण है और सृजन जीवन का ही प्रारंभ है। इसलिए सृजन में भी अनिवार्यत: द्वंद्व का महत्त्व है। अव्वल तो कोई ऐसा आदमी हो ही नहीं सकता जो जीवित भी हो और सारे द्वंद्वों से मुक्त भी हो गया हो, लेकिन अगर कहीं हो तो वह और चाहे जो करे, सृजन तो उससे संभव ही नहीं है। सच तो यह है कि द्वंद्वात्मकता की तीव्रता ही सृजनशीलता का आधार रचती है।

सृजन में भौतिक द्वंद्वात्मकता के साथ ही सामाजिक-मन और व्यक्ति-मन के द्वंद्व का भी योग होता है। इस द्वंद्व को अपने भीतर महसूस करने से ही मन रंगता[8] है। मन का रंगा जाना बहुत जरूरी होता है। मन रंगता है अपने-जैसे लोगों की संवेदनात्मकता के अधिकाधिक स्तरों पर उनसे जुड़कर। जुड़ाव की मौलिक सामाजिक जरूरत ही सृजन को संभव बनाती है। सृजन का महत्त्व सुजन और स्वजन से जुड़ने और जोड़ने में सहायक होने के कारण बनता है। सुजन और स्वजन से विलगाव की स्थिति में मन का रंग उतरने लगता है। यह विलगाव तब और मर्मांतक हो जाता है जब 'सुजन' और 'स्वजन' अमृत ही नहीं विष भी छिपा ले जाते हैं। यह एक भयानक सामाजिक स्थिति है। भयभीत आदमी का किसी पर भरोसा नहीं रह जाता है। जर्जर रस्सी पर नहीं बाबू, नट की तरह, भरोसे की डोर पर चलता है आदमी दिन रात।[9] सचमुच भयभीत आदमी, शांति के कुएँ में, एक विस्फोटक बम है। इस विस्फोटक दुनिया में, वह एक, कछुआ है।[10] तब मन करता है: नंगा होकर कुछ घंटों तक सागर तट पर खड़ा रहने, अगस्त्य की तरह सागर--- सागर के भावार्थ के डि-कोडिंग के लिए 'सागर' में 'समाज' की अंतर्ध्वनि को सुना जाना भी प्रयोजय है--- को ही अंजलि में भर पी जाने का।[11] बेरंग मन बहुत सारी सामाजिक समस्याओं की जड़ होता है। मन की दशा और दिशा ठीक नहीं रहने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। ऐसी ही स्थिति में 'मन भालो नेई, मन भालो नेई'[12] की गुहर कवि लगाने लगता है। मन बहुत ही संवेदनशील होता है। सभी स्थितियों में इसकी संवेदनशीलता का संबंध सिर्फ चंचलता या चित्त की उद्विग्नता से ही जोड़ना ठीक नहीं है। मन की संवेदनशीलता का संबंध, सृजन--- और संबंध-सृजन--- की इच्छा, सृसिच्छा से होता है। लेकिन नंगा होकर कुछ घंटों तक ही सागर तट पर खड़ा रहा जा सकता है। फिर मन को रंगों की दमकती हुई आभा की जरूरत होती है। इसके लिए दमकते हुए विशाल भूखंड के नये गगन में चमकते हुए नये सूर्य--- सामाजिक सामरस्य की संभावना भी प्रयोज्य--- में अपनी भी आभा के होने के बोध को एहसास के स्तर पर हासिल करना पड़ता है।[13] यह एहसास हासिल होता है, सृजन की मौलिक इच्छा अर्थात जुड़ने और जोड़ने की इच्छा से।

मुक्तिबोध बताते हैं, 'कभी-कभी ऐसा भी होता है, मन अपने को भूनकर खाता है। आज कई रोज से इसी तरह की बेचैनी दिल में घर किये रही।किसे कहें? क्या कहें? तबीयत होती है, बहुत-बहुत तबीयत होती है कि ऐसा देशी-विदेशी साहित्य हाथ में आ जाय, जिसके द्वारा मेरी अपनी समस्याओं पर कुछ प्रकाश पड़े, कुछ राहत मिले, कोई मार्ग प्राप्त हो। कोई ऐसा उपन्यास पढ़ने को मिल जाय, जिसमें मेरी-जैसी समस्यावाले व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया हो। संभव है उस लेखक के कुछ विचार मेरे काम के निकलें। लाइब्रेरियों में जाता हूँ; किताबें टटोलता रहता हूँ, कुछ पूरी पढ़ता हूँ, कुछ आधी पढ़कर वापिस कर देता हूँ। हाँ, यह एक आत्मग्रस्तशोध है। ऐसा कहीं कोई

भी मिलने का, जो मेरी समस्याओं-जैसी समस्याओं और मेरे स्वभाव-जैसे स्वभाव पर कोमल किंतु तीव्र प्रकाश डाले, उन्हें मूर्त करे, और नाजुक तरीके से, हल्के से, बस यूँ ही इत्मीनान दिला दे और रास्ते चलते मुझे भी रास्ता बता दे। बस, एक गुरू की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार-भरे सलाहकार की, बड़ी जरूरत है, बहुत बड़ी। उससे बहस की जा सके, ऐसा अवसर हो। यह संदेह के परे है कि विभिन्न युगों में और विभिन्न देशों में— यूरोप और अमरीका में, चिली और जापान में, सेन फ्रांसिस्को और मास्को में, लंदन में और प्राग में, दिल्ली और तिरुवांकुर में— मेरी-जैसी समस्यावाले और मेरे-जैसे स्वभाववाले एक नहीं अनेकों (अनेक) हुए होंगे। कोई मुझे उनका लिखा उपन्यास ला दे, या कोई निबंध। कविता भी चल जायेगी। यह जरूरी नहीं है कि वह आधुनिकतावादी हो। आधुनिकतावादियों को मैंने देख लिया है। उनमें दम नहीं है, वे पोचे हैं। वे समस्या को बड़ा करके बताते हैं, आदमी को छोटा करके नचाते हैं। वह भी एक स्वाँग है।’[14]

हम पस्तहाल नहीं हैं। आदमी को छोटा और समस्या को बड़ा बनाकर देखे-दिखाये बिना भी महसूस किया जा सकता है कि आज की हमारी सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। सामाजिक गत्यात्मकता को प्रेरित करनेवाले कारक होते हैं— परंपरा का श्रद्धा-पक्ष, अंतर्विवेक का प्रगति-पक्ष और समाज से बाहर की अन्य शक्तियों द्वारा उत्सर्जित प्रवृतियों एवं पद्धतियों का अन्य-पक्ष। किसी भी समाज में यह ‘त्रिधारा’ अपनी मात्रात्मक एवं आनुपातिक भिन्नता में एक साथ सक्रिय रहती हैं। इस मात्रात्मक एवं आनुपातिक भिन्नता के कारण समाज का अपना विशिष्ट स्वभाव बनता है। आज के बाजारवाद और भूमंडलीकरण के जमाने की मुख्य सामाजिक प्रवृतियों को ध्यान में रखने से यह तथ्य सहज ही लक्षित हो जाता है कि इनके सहमेल में विकसित उत्तर-आधुनिकता के ‘दर्शन’ में सामाजिक जीवनस्थितियों की माँग के अनुसार अंतर्विवेक के आधार पर संचालित सामाजिक गत्यात्मकता के लिए थोड़ा भी सम्मान नहीं है। उत्तर-आधुनिकता के ‘दर्शन’ में सामाजिक गत्यात्मकता के लिए ‘केंद्रीकरण’ के विरोध और ‘हाशिये’ के समर्थन के लिए स्थानिकता के आग्रह पर बल दिया जा रहा है। स्थानिकता के आग्रह पर बल देने की रणनीति के आधार पर परंपरा से प्राप्त प्रेरणा के श्रद्धा-पक्ष को, अंतर्विवेक के प्रगति-पक्ष पर परखने की छूट दिये बिना, बाह्य प्रभाव के अन्य-पक्ष के दबाव को महत्त्व दिया जा रहा है। स्थानिकता के आग्रह पर अतिरिक्त बल देने की रणनीति का मुख्य मकसद विभिन्न समाजों की स्वाभाविक सहबद्धता को विनष्ट करना है। इनका मनोरथ है कि विभिन्न समाज अपने-अपने द्वीप में कैद होकर कमजोर हो जायें जिससे भूमंडलीकरण का रास्ता अधिक निर्विघ्न हो सके। क्योंकि, विभिन्न समाजों की स्वाभाविक सहबद्धता के विनष्ट हो जाने से उनकी सम-राष्ट्रीयता के भावबोध में दरार पड़ जाती है और तब प्रांतवाद, जिलावाद और ग्रामवाद तक ही नहीं मुहल्लावाद और घरानावाद तक सामाजिक विखंडन के विस्तार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसके लिए

उत्तर-आधुनिकता ग्रामभाषा को महत्त्व देने का लोभ देकर विश्वभाषा के सामाजिक प्रवेश और प्रसार का मार्ग निष्कंटक बनाती है। आवारा वित्तीय पूँजी की गति बढ़ती है और बहुसंख्यक अबादी की गत्यात्मकता घटती है। विडंबना यह कि जितनी तेजी से विश्व ग्राम में बदलेगा उतनी ही तेजी से ग्रामीणों के लिए अपना जिला-शहर परदेश हो जायेगा! हमारा तंत्र बाह्य शक्तियों के प्रभाव और दबाव को सफलतापूर्वक झेलने की इच्छा-शक्ति एवं प्रतिरोधी कौशल से हीन हो गया है और जन भीतरी उबाल के बाहरी परिणाम के लिए वैकल्पिक राजनीतिक प्रक्रिया के क्वथनांक पर पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहा है। समाज बाह्य शक्तियों के प्रभाव और दबाव में फँसता चला जा रहा है। श्यामाचरण दुबे कहते हैं, 'ऐसे समाज के सदस्य बाह्य प्रभाव को बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेता है। परंपरा की शक्ति क्षीण हो जाती है, अंत:विवेक को विकसित होने का मौका नहीं मिलता है। व्यक्ति को उपभोक्ता बनाने में बनाये जाने के लिए यह समाज सबसे अधिक उपयोगी होता है। रंगीन मनमोहक विज्ञापनों की बौछार उसे संज्ञा शून्य बना देती है। रिझाने की यह प्रक्रिया बच्चों को भी नहीं छोड़ती है। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन से प्रच्छन्न प्रभाव ऐसा संचार तंत्र विकसित करते हैं, जिससे बाल अवस्था से ही व्यक्ति की रूचियाँ और रूझान उपभोगवाद की ओर मोड़ लेने लगती है। यह उपभोग में सुख की परिभाषा खेजने लगता है। यह उपभोगवाद संतोष की कोई सीमा रेखा नहीं तय करता है।'[15] पूरी दुनिया असंतोष के कगार पर खड़ी है। इस असंतोष के विस्फोट से दुनिया में होनेवाले विनाश को रोकने में जिन तत्त्वों की कारगर भूमिका हो सकती है उन तत्त्वों में साहित्य की सचेत सामाजिक सृजनशीलता का भी अपना महत्त्व है।

भारत जैसे राष्ट्र में सामाजिक विखंडन का खतरा तो और भी बड़ा है। भूलना नहीं चाहिए कि एक आधुनिक राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत का संघटन फासीवाद के विरुद्ध किये गये विश्व-संघर्ष और ब्रिटिश उपनिवेशवाद सहित आंतरिक स्तर पर आत्म-उपनिवेशिता से मुक्ति के लिए किये गये आत्म-संघर्ष के दौरान हुआ। विश्व-संघर्ष और आत्म-संघर्ष के साथ-साथ चले मुक्ति-संघर्ष के चरित्र का असर भारतीय राष्ट्र के चरित्र में भी अंतर्भुक्त हुआ। इस मुक्ति-संघर्ष का चरित्र कैसा था? सुमित सरकार कहते हैं, 'वस्तुतत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृतियाँ हैं।'[16] वे यह भी कहते हैं कि 'विभिन्न भारतीय भाषाओं के राष्ट्रवादी साहित्य में कुछ-एक अस्पष्टताएँ भी दिखाई पड़ती हैं। इसकी वृत्ति राष्ट्रीय, प्रादेशिक एवं सांप्रदायिक चेतना को न्यूनाधिक एक साथ पोषित करने की थी।'[17] भक्तिकाल में ऐसा नहीं था। नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं, ''मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।''[18] लेकिन, बिडंबना यह कि उत्तर-आधुनिक काल

में ऐसा है। आज भारत में फिर प्रादेशिक एवं सांप्रदायिक चेतना को सुनियोजित एवं प्रायोजित तरीके से बढ़ावा दिया जा रहा है। इस सुनियोजन एवं प्रायोजन के पीछे सक्रिय शक्तियों की पहचान क्या सचमुच बहुत मुश्किल काम है! भारत जैसे देश में सामाजिक विखंडन का खतरा बड़ा है इसलिए भारत जैसे देश में सामाजिक सृजनशीलता का महत्त्व भी अत्यधिक है। समाज का बड़ा भाग नव-दलन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। ऐसे में, अतीत के अवशेष पर पल रहे वैर के पुराने भाव को भुलाकर सामाजिक संवर्गों में नई निर्वैर स्थिति को अर्जित करना सामाजिक सृजनशीलता का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। कबीर के निर्वैर के मर्म को नये सिरे से समझना होगा। कहने की जरूरत नहीं है कि हिंदी साहित्य की सामाजिक सृजनशीलता का महत्त्व कितना अधिक है।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही है कि नवाचारों के लिए जो आग्रह बढ़ता है उसका संबंध समाज में सक्रिय अंतर्विवेक से न होकर बाह्य शक्तियों के दबाव एवं प्रभाव से होता है। यह काम किसी भी समाज में उस समाज से बाहर की अन्य शक्तियों द्वारा उत्सर्जित प्रवृतियों एवं पद्धतियों को अध्यारोपित कर किया जाता है। अपनी इस परियोजना में बाह्य शक्तियाँ और आंतरिक शक्तियाँ मिलकर परंपरा के नाम पर परंपरा में अंतर्निहित अंधविश्वासों को जमकर बढ़ावा देती है। इसके लिए घर्म ही नहीं विज्ञान का भी नि:संकोच उपयोग किया जाता है। यहाँ धर्म और बाजार के नवसंश्रय को भी पढ़ा जा सकता है और भारतीय विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में ज्योतिष को शामिल किये जाने के आग्रह तथा कर्मकांड एवं पौरोहित्य की औपचारिक शिक्षा के उत्साह के मूल में छिपे मनोरथ को भी समझा जा सकता है। यहीं हम एक साथ, भारत जैसे देश में राष्ट्रपति के पद पर वैज्ञानिक के पदासीन होने और उप-राष्ट्रपति के पद के लिए उसी सत्ताधारी समूह के प्रस्तावित उम्मीदवार के द्वारा सिंचाई एवं आपदा प्रबंधन की आवश्यकताओं की तरफ से ध्यान बँटाने के लिए मानसून की वर्षा के लिए यज्ञ करने के रहस्य के मर्म को भी समझ सकते हैं। क्या अंघविश्वास से उत्पन्न समस्याएँ हमें जरा भी विचलित नहीं करती है? क्यों आज भी सती होती या की जाती है बूढ़ी कुटु बाई? कितना भयावह है यह जानना कि जिस दिन देश के प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति राजधानी दिल्ली में बच्चों को दुलरा रहे होते हैं ठीक उसी दिन मदुरै में किसी देवी को प्रसन्न करने के लिए एक मिनट तक एक सौ पाँच बच्चों को जमीन के अंदर गाड़ दिया जाता है, वह भी एक मंत्री की उपस्थिति में! वह कौन-सी देवी है जो बच्चों के जिंदा गाड़े पर प्रसन्न होती हैं? उनके प्रसन्न होने से किसका लाभ होता है? कुल मिलाकर, ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ थोड़े-से ताकतवर लोगों के हाथ में दुनिया का विस्तार सिमटकर रह गया है। एक गाँव के बराबर! जबकि उद्योग, व्यापार, बाजार के विकास के कारण जनमी नई सामाजिक त्वरा में आबादी की गत्यात्मकता का ही नहीं विस्थापन का अंतर्भाव भी

निहित होने के कारण गाँव में अपने माँ-बाप को छोड़कर इस शहर, उस शहर कमाने के लिए आये आदमी के पास अपनी बीमार माँ और परेशानहाल पिता के पास लौटकर जाने की फुर्सत और सहूलियत कम होती जा रही है। सच तो यह भी है कि जीवन ऐसे भँवर में फँस गया है, ऐसी मरीचिका में फँसता चला गया है कि कई बार लौटकर गाँव जाने का, रोज-ब-रोज पीछे छूटते जा रहे रिश्तों के रेशों पर मन फिराने का मन ही नहीं बचता है! इतना ही नहीं त्रासदी यह है कि कमाने-खाने के लिए घर से निकली इस बहुत बड़ी आबादी का मन किसी-न-किसी स्तर पर अपने बाहरी होने के बोध से हमेशा उन्मथित होता रहता है। ऐसे में सागर तट पर नंगा होने और मन को भूनकर खाने के मन के सिवा बचता ही क्या है। अब ये ताकतवर लोग ही अमृत और विष को ही नहीं मथने के बाद बचे हुए सागर की अवशिष्ट संभावनाओं को भी सोख ले रहे हैं। विशाल भूखंड अब विशाल नहीं रहा, इन ताकतवर लोगों के हाथ का लीलाकमल बनकर रह गया है। न विशाल भूखंड के नये गगन में चमकते हुए सूर्य में हमारी आभा की समूलियत की कोई गुंजाइश ही बच रही है। सारे प्रकाशपुंज पर इन ताकतवर लोगों का कब्जा होता चला गया है। बहुत बड़ी आबादी के पास जो गगन बचा है उसमें इन थोड़े-से ताकतवर लोगों के स्वार्थ के अवगुंठनों का ऐसा गुंजलक बना हुआ है कि इस गहन अंधकार में वृहत्तर मानव समाज के लिए 'न कोई शशधर है न कोई तारा है'।[19] सच है, पृथ्वी पहली बार अंधकार से आच्छन्न नहीं हुई है लेकिन इस बार का अंधकार पहले के अंधकार से अधिक खतरनाक है। क्योंकि, विनोद कुमार के शबदों में कहें तो, पृथ्वी के अंधकार में, पहला पुरुष अकेला नहीं था, न पहली स्त्री। सूर्योदय का रंग, अंधकार में, दोनों के साथ होने से बन रहा था। और आज? साथी पाना ही तो असंभव होता गया है। साथी को नहीं जानते अधिक-से-अधिक साथ चलने को जानते हैं।[20] साथी को, व्यक्ति को जाने बिना न तो हताशा को जाना सकता है, न हाथ बढ़ाने को और न ही साथ चलने को। सभ्यता को संघात से बचाने के लिए सामाजिक समूहों को बचाना होगा। भगवत रावत के मन को पढ़ें तो, बिडंबना यह कि सभ्य आदमी समूह में मिलकर नहीं गाते, समूह में मिलकर नहीं नाचते, समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते, सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं, सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते हैं?[21] विकास की यह आधुनिक संकल्पना है; विनोद दास को याद करें तो, इस संकल्पना का संकल्प है कि न कोई साथ आये, न कोई साथ रहे, सब अकेले रहे, सब अकेले होते जाएँ।[22] जब तक सभ्यता और संस्कृति नये सूरज की आमद से समृद्ध नहीं हो जाती तब तक इस घनघोर अंधेरे से बचने के लिए लालटेन जलाना बहुत जरूरी है। जरूरी है लेकिन विष्णु खरे के मुताबिक मुश्किल यह है कि लालटेन जलाना उतना आसान बिल्कुल नहीं है, जितना उसे समझ लिया गया है।[23] व्यक्ति को जाने बिना हम सभ्यता और संस्कृति के इस संकट को कैस समझ पायेंगे? लालटेन जलाने के दायित्व से बँधी सामाजिक सृजनशीलता के लिए

जरूरी है कि वह व्यक्ति को जाने। जाने बिना उसे वह जन के बोध से और अपने से भी कैसे जोड़ पायेगी!

सभ्यता और संस्कृति के इस विचलन भरे समय में एक बार फिर इस पाठ को याद करने की जरूरत है कि मनुष्य के हर्ष और विषाद दोनों का ही संवेदनात्मक साक्षी साहित्य होता है। साहित्य सभ्यता और संस्कृति का संवेदनात्मक, जीवंत और प्रामाणिक स्मृतिकोश होता है। वास्तविक अकेलापन कुछ नहीं होता है। जब कोई अपने आपको अकेला मानता है उस समय भी उसके दिमाग में किसी-न-किसी की उपस्थिति हमेशा रहती है, किसी-न-किसी का श्रम और सपना उसके साथ हमेशा होता है। हाँ, अकेलापन का बोध अवश्य होता है। यह बोध कम खतरनाक नहीं होता है। इस बोध के होने के अपने सामाजिक कारण होते हैं। उन कारणों को खोज निकालने की जरूरत है। अकेलेपन के बोध से उबरी हुई सामाजिक सामूहिकता और बोध से ऊपजे अकेलेपन की मन:स्थिति में भी साहित्य व्यक्ति से संवाद कर सकता है। साहित्यिक सृजनशीलता के स्वभाव और उसके सामाजिक प्रभाव को ठीक ढंग से समझने के लिए जरूरी है कि साहित्य की इस क्षमता को ध्यान में अटाया जाये।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य के साथ जनता की चित्तवृति के गहरे संबंध को रेखांकित किया था।[24] जनता की चित्तवृति किस अवस्था में है? समाज की दशा क्या है? जवाब मंगलेश डबराल से सुनें, जिसने कुछ रचा नहीं समाज में, उसी का हो चला है समाज। वही है नियंता जो कहता है तोड़ूंगा अभी और भी कुछ। जो है खूँखार, हँसी है उसके पास। जो नष्ट कर सकता है, उसी का है सम्मान। झूठ फिलहाल जाना जाता है सच की तरह।[25] चारों तरफ से आते इस शोकगीत को सुनो, जिसमें कोई स्वर नहीं कोई लय नहीं, स्मृतियाँ भी नहीं हैं, सिर्फ रात है उन अक्षरों पर गिरती हुई, जिन्हें तुम (इस तुम में हम भी शामिल है) अज्ञात लिपि की तरह पढ़ते रहे हो रात भर।[26] सृजनशीलता का मध्यवर्ग से बड़ा गहरा संबंध होता है। हमारे समय के बचे हुए मध्यवर्ग की मनोदशा क्या है? घर से निकलना है, घर में प्रवेश करना है, चींटी चाल चलते कभी हड़बड़ करते, बचे रहना है इस आँधी से जो आने को है कभी भी, त्वचा हमारी भाँप लेती है हवा में कम होती नमी को।[27] हवा में कम होती नमी तो खतरा है ही लेकिन उससे भी बड़ा खतरा है साहस की कमी। क्योंकि 'शब्द इस साहस की कमी से मरते हैं।'[28] साहस की यह कमी दूर होगी समाज और व्यक्ति के नये संबंधों के उद्घाटन से। साहित्य व्यक्ति के मन में समष्टि के स्वप्न को अध्यारोपित करता है और समष्टि के मन में व्यक्ति की आकांक्षाओं के लिए समुचित संदेश (स्पेस) रचता है। इसके लिए रचनाकार को कठिन परीक्षा से गुजरना होगा। रचनाकार की यह परीक्षा कठिन इसलिए है कि समाज में उसके लिए कोई सुविधाजनक जगह है

नहीं। साहित्य पर लोगों का भरोसा कम होता गया है तो उसके कारण भी हैं। पाठक गंभीर साहित्य के पास क्यों आता है? मुक्तिबोध को याद करें तो, गंभीर साहित्य के पास पाठक आता है क्योंकि 'अपनी-जैसी समस्यावाले' और 'अपने-जैसे स्वभाववाले' साहित्यकार और साहित्यिक चरित्रों में उसे आदेशात्मक और उपदेशात्मक निर्देशों से मुक्त कोमल किंतु तीव्र प्रकाश मिलता है, वे मूर्त होती हैं, और नाजुक तरीके से, हल्के से, बस यूँ ही इत्मीनान मिलता है और रास्ते चलते उसे भी अपने सामने उपलब्ध रास्तों का ज्ञान हो जाता है। पाठक को बस, एक गुरू की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार-भरे सलाहकार की, बड़ी जरूरत होती है, बहुत बड़ी जरूरत होती है। पाठक चाहता है कि साहित्य में ऐसा अवसर हो कि उससे बहस की जा सके।[29] गंभीर साहित्य में बहस और संवाद का यह सामाजिक अवसर कम होता गया है। इस अवसर की कमी का सीधा कारण साहित्य की सृजनशीलता में सामाजिकता के समावेश के अवसर में कमी से है। चूँकि, यह अवसर कम होता गया है इसलिए उसके पाठक भी कम होते गये हैं। यह अवसर कविता में कुछ अधिक ही कम हो गया, इसलिए कविता के पाठक भी कुछ अधिक ही कम हो गये हैं। सामाजिकता से सचेत रूप से कटकर व्यक्ति के नाम पर रचना को कुंठा से संबद्ध कर दिये जाने के कारण साहित्य की विश्वसनीयता में कमी आई है। वाशिंदे हम वास्तविक दुनिया के होते हैं, और इस दुनिया में अपने बसाव को मजबूत बनाने, इस दुनिया में अपने होने को और अधिक निरापद बनाने के लिए हम साहित्य में जाते हैं, न कि वास्तविक दुनिया से कटकर साहित्य की दुनिया का वाशिंदा बनने के लिए हम साहित्य में जाते हैं। सामाजिकता से कटे और वैयक्तिक कुंठाओं का अखाड़ा बने साहित्य पर कितना भरोसा किया जा सकता है यह सवाल तो है ही। 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं।इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'[30] साहित्य पर आवश्यकताभर भरोसा लोगों का बचा रहे इसके लिए साहित्य को नये सिरे उद्यमशील होना ही होगा। समाज में अंधी गली के मुहाने से लौटने की छटपटाहट है। यह छटपटाहट तभी सर्जनात्मक हो सकती है जब इसके साथ यह चेतना भी सक्रिय रहे कि 'हताहात नहीं हिताहित'[31] लौटना है और लौटकर 'घर नहीं, घर-घर जाना है।'[32]

रघुवीर सहाय ने ठीक ही लक्षित किया था, 'आज के कवि को अपनी परीक्षा के लिए समाज के सामने आना, विशेष रूप से तब जबकि समाज में उसके अपने अस्तित्व को अर्थात समाज से अपने रिश्ते को समझने में संशय हो रहा हो, उसे अहं के रचनाविरोधी खतरे से बचायेगा। क्या उसकी रचना सचमुच कहीं झूठे विश्वासों को झूठा बताती है? और जो नया विश्वास देती है वह लोगों के मन में क्या स्वयं उनकी एक नयी पहचान पैदा करता है? लोग कवि की रचना में क्या उस नये विश्वास को पहचानकर देख पाते हैं कि अवश्य ही कविता उन्हें बता रही है कि खुद उनमें नया क्या

है? पाठक का पुनरूज्जीवन कर सकना आदेश या उपदेश देनेवाले अहं का विसर्जन करके ही संभव है और इसी की परीक्षा के लिए कवि को बार-बार अपनी रचनाएँ प्रकाशित करनी होती हैं। आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्त्ति करती दिखायी दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि इस संघर्ष में बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको जाँचेगा, सुधारेगा, बनायेगा और फैलायेगा। ये संबंध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे। जहाँ तक हृदय का सवाल है, कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते: इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े।’[33] न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को मनुष्य की सक्रिय संवेदना का हिस्सा बनाये रखने के लिए सामाजिक सृजनशीलता को आत्मपुनर्गठन की प्रक्रिया से नये सिरे से जुड़ना है।

जो हो, कोई ‘भूल नहीं जाना चाहता था, अपने घर का रास्ता’।[34] बावजूद इसके हकीकत यह है कि ‘अब हम आ गये हैं घर से बहुत दूर। चाहे जैसी हवा हो, यहीं हमें जलानी है अपनी आग। जैसा भी वक्त हो, इसी में खोजनी है अपनी हँसी। जब बादल नहीं होंगे, खूब तारे होंगे आसमान में, उन्हें देखते हम याद करेंगे, अपना रास्ता।’[35] श्यामाचरण दुबे बताते हैं, ‘आर्थिक विकास को व्यक्तिगत स्पर्धा पर नहीं छोड़ा जा सकता, विकास की सामाजिकता पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।’[36] सही है आर्थिक विकास की सामाजिकता पर भी ध्यान रखने की जरूरत है और सृजनशीलता के विकास की सामाजिकता पर भी ध्यान रखने की जरूरत है। इन्हें न तो व्यक्तिगत सपर्धा पर छोड़ा जा सकता है और न ही व्यक्तिगत प्रतिभा पर। लेकिन कैसे? वे हमें चाहे जितनी चेतावनी दें हमें इस संकल्प को जीवित रखना होगा कि ‘क्रांति, समता, प्रगति, जनवाद — आजीवन हमने, इन शब्दों से काम लिया है !’[37] और आगे भी लेते रहेंगे।

1 कबीर

2 orbit
3 Spinozistic elements / substance
4 रवींद्रनाथ ठाकुर: नैवेद्य: प्रार्थना
5 मानव विकास रिपोर्ट - 2002
6 नामवर सिंह: साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की भूमिका
7 कामायनी का संघर्ष सर्ग: चिति केंद्रों में जो संघर्ष चला करता है,   द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है।
8 कबीर
9 राजेश जोशी: नेपथ्य में हँसी: नट
10 चंद्रकांत देवताले: लकड़बग्घा हँस रहा है: भयभीत आदमी
11 नागार्जुन: मन करता है ...
12 सुनील गंगोपाध्याय
13 नागार्जुन: मेरी भी आभा है इसमें
14 मुक्तिबोध रचनावली: चार: अकेलापन और पार्थक्य
15 श्यामाचरण दुबे: संक्रमण की पीड़ा: भौतिक विकास - व्यक्ति का विकास
16 आधुनिक भारत (1885-1947): सुमित सरकारः अनु. सुशीला डोभाल: राजकमल प्रकाशन
17 आधुनिक भारत (1885-1947): सुमित सरकारः अनु. सुशीला डोभाल: राजकमल प्रकाशन
18 नामवर सिंह: भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोक धर्म
19 निराला
20 विनोदकुमार शुक्ल: अतिरिक्त नहीं
21 भगवत रावत: सच पूछो तो
22 विनोद दास: वर्णमाला के बाहर: सँकरे दरवाजे में
23 विष्णु खरे: सब की आवाज के पर्दे में: लालटेन जलाना
24 आचार्य रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास
25 मंगलेश डबराल: आवाज भी एक जगह है
26 मंगलेश डबराल: घर का रास्ता: शोकगीत
27 मंगलेश डबराल: घर का रास्ता: हम
28 केदारनाथ सिंह: शब्द
29 मुक्तिबोध: रचनावली भाग- 4: अकेलापन और पार्थक्य
30 मुक्तिबोधः रचनावली-4: एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न
31 कुँअर नरायण: कोई दूसरा नहीं: अबकी अगर लौटा तो
32 विनोदकुमार शुक्ल: अतिरिक्त नहीं